1964 No.1

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ८ Year 8

अंक १ No. 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहांपुर

(उ० प्र०) (भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) 1964. No 1 एक अंक १)

प्रकाशक:- श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो जागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ८ } संवत २०२१ विक्रमी { Year 8
अङ्क १ } Year 1964 { No 1

* प्रार्थना *

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

॥ सम्पादक की बात ॥

प्रस्तुत अंक के साथ सहज मार्ग पत्रिका अपने प्रकाशन के आठवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। इसकी अनवरत उन्नति के लिए परमात्मा से निरन्तर प्रार्थना है। हम उन सभी सज्जनों के अत्यधिक आभारी है जिन्होंने इसको अपना कर इसमें सहायता प्रदान की और पत्रिका को अपने उच्च विचारों से सुशोभित किया है।

परन्तु हमें इस बात का दुःख है कि छपाई की कुछ कठिनाइयों के कारणवश पत्रिका ठीक समय पर ग्राहकों के पास न पहुंच सकी आशा है कि यह कठिनाई शीघ्र ही दूर हो जावेगी।

हर्ष की बात है कि मिशन की ओर से एक अन्य पुस्तक "Talks on Sri Ram Chandra's Efficacy of Raj Yoga" by K. C. Varadachari प्रकाशित हो चुकी है। जो सज्जन इसे मांगाना चाहें, मिशन के Secretary अथवा मिशन के किसी अन्य Branch Centre से प्राप्त कर सकते हैं।

पत्रिका के सहृदय पाठकों से प्रार्थना है कि जिनका चन्दा अभी बाकी है वह कृपया शीघ्र भेजने का कष्ट करें।

सम्पादक

★ विषय सूची ★

क्रम सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१	परम पद	समर्थ गुरु महाराज	१
२	ब्रह्म साक्षात्कार	श्री रामचन्द्र जी	५
३	अभ्यास और साधन	श्री काशीराम जी	७
४	ओ३म्	श्री रामदास जी	६
५	हमारा उत्सव	श्री ईश्वर सहाय	११
६	भावना	कुमारी कस्तूरी	१४
७	गीत	श्री बाबू जी महाराज	२२
८	योग और साधनों के पथ पर	श्री उमाशंकर आर्य	२३
९	बसंत पंचमी	श्री सुरेश चन्द्र	१७
1	Bhakti	Sri Ram Chandraji	1
2	The Teachnique of Puja	By Raghavendra	4
3	Transfor mation	Sri Ishwar Sahai	7
4	A day with Balrn ji	Sri Bhaeron Prasad Srivastava	11
5	Talks efficacy of Rajqagor	Dr. K. C. Varadachaii	15
6	What is Transmission	Sri B. D. Mahajan	20
7	Prayer	Sri S. P. Srivastava	25

(End)

-:परम पद:-

[समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़]

❀ क्रमागत ❀

[ब्रह्म]

इस ब्रह्म को बढ़ने वाला बताया है। वह (बढ़ना) और मनन (बिचार करना) यह नाम इस लिये दिया गया है कि इसका नाम स्थिर करने वाला जीव है। यह नाम भी जीव ने अपनी दृष्टि से उसे दिया है अन्यथा उसने अपना नाम आज तक न किसी को बताया और न बताता है। जीव चूंकि स्वयं गतिशील बर्द्धमान (बढ़ने वाला) और बिचारशील है अतः उसने अपने स्वरूप के अनुसार उसे यह नाम दिया और उसे बड़ा कल्पित किया। बास्तव में तो न वह बड़ा है न छोटा न सीमित है न असीम। वह जो कुछ है वही है। और वह नाम नाम की दृष्टि से अच्छा है, बुरा नहीं। ब्रह्म के समस्त सद्गुण जीव ही के मस्तिष्क के अधीन हैं। जीव की अपनी समझ ही समझ के अनुसार वह सगुण और निर्गुण है। चूंकि जीव के जीवत्व 'स्वभाव' के अनुसार समस्त सृष्टि प्रगति एवं बुद्धि की ओर अग्रसर हो रही है, अतः उसने अपनी समझ के अनुसार ब्रह्म को सबसे बड़ा प्रत्यय [idea] और इष्ट पद समझकर उस जैसा अपने आप को बनाना संवारना और बढ़ाना चाहा है। यह उसके अपने मस्तिष्क की उपज है और जब वह बौद्धिक और ज्ञानी तौर पर काफी विकास प्राप्त कर लेता है तो उसको यह विश्वास हो जाता है कि यह सभी उसके मानसिक गुण उसकी अपनी समझ के अनुसार स्थिर हुये थे। और तब वह सगुण ब्रह्म के प्रत्यय को छोड़कर उसे निर्गुण मान लेता है और सब गुणों से रहित स्वीकार कर लेता है।

जीव चूंकि अपने आप को अपूर्ण मानकर पूर्णता और निर्दोषता का प्रेमी और इच्छुक बना लेता है अतः उसको ब्रह्म की पूर्णता में शान्ति मिलती है एक तो यह कारण है। दूसरा कारण यह है कि जीव की

दृष्टि में समस्त अस्तित्व और सृष्टि अर्थात् अखिल ब्रह्मांड चक्कर में है। पृथ्वी, सूर्य; चन्द्रमा, नक्षत्र सभी चक्कर में हैं और वह स्वयं भी अपने आप की चक्कर में पाता है। और चूंकि उसकी चक्राकार गति किसी विशेष उद्देश्य से होती है अतः वह अपने इस उद्देश्य को सब में कल्पित कर लेता है और सब को बुद्धिमान और विवेकशील समझता है। नादान से नादान को वह अपने काम में होशियार जानता है इसलिए यदि वह ब्रह्म को भी ऐसा समझता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। और समझ बूझ के बाद जब उसे स्वयं शान्ति एवं स्थिरता प्राप्त होती है तो ब्रह्म को भी वह सिर से पैर तक [आद्योपान्त] शान्ति के रूप में मानकर चुप हो जाता है।

ब्रह्म का अस्तित्व जीव के अस्तित्व के अंतर्गत है। तुम्हारा अस्तित्व है अतः इसको उसी प्रकार अस्तित्व योग्य मानते हो जैसे कि समुद्र को दृष्टि में रखने वाला बूंद समुद्र के अस्तित्व का विश्वासी और स्वीकार करने वाला होता है। तुम न होते तो कौन ब्रह्म को मानता, सोचता, समझता और उसके अस्तित्व के विषय में प्रश्न उठाता!

जीवों का योग ब्रह्म भी है। यह ब्रह्मांड भी उसी ब्रह्म की स्थूल देह है। और स्थूल देह की दृष्टि से इसको विराट अर्थात समस्त अस्तित्व का बहुत बड़ा ढेर मानते हैं। ब्रह्म की बुद्धि मनुष्य की बुद्धि के अधीन है क्योंकि मनुष्य जब ज्ञानवान और समझदार होता है तो ब्रह्म को संपूर्ण बुद्धि और सभी बौद्धिकता और ज्ञान का योग समझकर उसको पूर्ण प्रबुद्ध और पूर्णज्ञानी कहता है और चूंकि हम ज्ञानऔर बुद्धिको अपने अंतर का मूल तत्व समझते हैं अतः ब्रह्म को समस्त ब्रह्मांड के ज्ञान और बुद्धि के मूल तत्वों का योग मानकर उसे अंतर्यामी: सूत्रात्मा अंतरम और हृदय का हृदय आदि कहते हैं। हम सुख और आनंद को जानते हैं और सुखी होते हैं और दूसरों में भी सुख और आनंद देखते हैं। यह समझकर और देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शारीरिकता का

योग विश्व के रूप में मौजूद है वैसे ही आनंद का योग भी अवश्य होगा इस आनंद के योग को परमानंद परमात्मा सर्वानंद सर्वसुख और हिरण्यगर्भ आदि नाम देते हैं। यह कहा जाता है कि सारे विश्व को अपने आप में देखो और सारे विश्व में अपने आपको देखो। यह मौखिक बातचीत है। अब व्यावहारिक अर्थात क्रियात्मक बात पर ध्यान दो।

१ हम अपने चारो ओर हजारों लाखों अगणित जीव जन्तु सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, राजा प्रजा आदि अनेक वस्तुयें देखते हैं और यह सब बड़े छोटे दृश्य क्षणमात्र में हमारी आंख के क्षुद्र छिद्र में समा जाते हैं। आंख खोली और आकाश के करोड़ों तारे उसमें प्रवेश कर गये। यह बाहरी हालत है। अब आँख बन्द करली गयी वही सब सामान अब अंदर भी दृष्टिगोचर होने लगा और बाह्य और आंतर सब एक जैसे प्रतीत होने लगते हैं।

२ हम समझते हैं कि हम किसी राजा की प्रजा अफसर के मातहत घटनाओं के दास और परिस्थितियों के अधीन हैं। अतः हमने अधीनता का क्षुद्रतापूर्ण विचार तो ले लिया किन्तु यह कभी भूलकर भी न समझा कि इन सबकी वास्तविकता हमारे अधीन है। यदि हम नहीं तो राजा को राजा और प्रजा को प्रजा कौन कहे। हमने जब स्वयं किसी राजा को राजा मान लिया तो वह राजा है पिता समझा तो पिता पत्नी समझा तो पत्नी है। ये सभी मानी हुयी बातें हैं। कहावत है कि मानो तो देव नहीं तो पत्थर है। यह हम ही हैं जिसके केन्द्र के चारो ओर यह अनेकता के दृश्य इस प्रकार चक्कर लगाते रहते हैं कि इस स्थिति का हमको किसी कारण वश ज्ञान नहीं है। चक्कर को देखकर हमारी बुद्धि भी चक्कर खाने लगी और ध्रुवत्व अर्थात केन्द्रीय स्थिति का आनन्द जाता रहा। चक्कर तो वृत्त की परिधि खाती है किंतु परिधि अथवा वृत्त को देखकर केन्द्र स्वयं अपने आप को घूमता हुआ मान बैठा। जैसे खेल में चक्कर खाने वाले बच्चों को मकान और बाग और रेल के यात्रियों को पेड़ तालाब आदि दृष्टिगोचर होते हैं। इसका नाम भ्रम है और जब भ्रम हो गया है तो अब चक्कर खाने हुये इसका अनुमान करना पड़ता है।

अब अपने में सबको और सब में अपने को देखने का भेद समझना चाहिये। कल्पना करो कि हम ब्रह्म हैं हम केन्द्र हैं हम मूलतत्व हैं हम आस्तित्व का निचोड़ हैं। यह विचार अंतर में हो फिर बाह्य को देखकर सोचो कि यह सब दृश्य हमारे ही मानसिक भाव के संकेत हैं। यह सब हमसे उत्पन्न और हमारे रूप हैं। हमारे अतिरिक्त और कौन है ?

जब अन्तर और बाह्य एक हो जायेगा तो पहले अनेकता का पर्दा गिरेगा। एकता आयेगी फिर यह एकता भी आपने आप क्षीण हो जायेगी तब क्या रहेगा।।-तुम आप ही आप रह जाओगे ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी गायब हो जायेगी। अजीब हालत होगी जो कहने सुनने या सोचने की बात नहीं है। एकत्व में लय अवस्था अनेकत्व में लय अवस्था और वास्तविकता में लय अवस्था यह तीनों ही बीच की अवस्थायें हैं।

१ शीशे में नादान लड़के ने अपनी छाया डाली और बोल उठा कि उसके अंदर लड़का है उसको निकालो मैं उसके साथ खेलूंगा शीश-महल का बावला कुत्ता अपनी ही आकृति देख देखकर भौंकता फिरता है। यह अनेकत्व में लय अवस्था वाले ज्ञानियों का हाल है।

२-बुद्धिमान शीशा देखने वाला शीशे में अपनी आकृति की छाया डालकर कहता है कि शीशे के अंदर और बाहर मैं ही एक हूं। यह एकत्व में लय की अवस्था है।

३-बाहरी और आन्तरिक विचार को (कल्पना) एक जैसा मान कर वास्तविकता की असलियत को सूक्ष्म आनंदमय पर्दे में रखता हुआ वास्तविकता कीलय अवस्था का प्रेमी आनंद में मग्न रहता है। यह वास्तविकता में लय अवस्था है।

यह तीनों अभी तक ठौर ठिकाने में नहीं हैं अतः चौथे पद का संकेत प्रारंभ होता है।

क्रमशः

ब्रह्म साक्षात्कार

[श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन]

जहां तक सुहानापन है वहाँ तक असल ब्रह्म नहीं कह सकते इसलिये कि बहुत कुछ माया का लेस पोत सूक्ष्म हालत में मौजूद रहता है। मुझे तो ऐसी सूनी महफिल में तुम सब को ले जाना है जहां कि सूनापन भी हजारों गुना भारी है और बाकई पूर्णता (Perfection) जो कि मनुष्य के लिये संभव है वही है। हमारे यहां इतनी खूबी जरूर है कि पूर्णता सब चाहते हैं। मगर मेहनत और (Devotion) के लिये उन को उनकी सुस्ती इजाजत नही देती। मान लो कि ईश्वर इतनी कृपा भी करे कि बिना मेहनत उन को यह हालत कहीं मिल जावे तो नतीजा क्या होगा कि मेरी शक्ल से बेजार हो जावेंगे इस लिये कि इस हालत में मज़ा क्या बल्कि सुबह और गुमान तक नहीं। भाई मजे की हालत मैं अपने ऊपर अक्सर तारी कर लेता था। अब मौजूदा हालत जो कुछ भी है बेमजे की है। उस से एक सेकेन्ड भी हटने को जी नहीं चाहता। सो लोग जब मजे की हालत लेते हुये जब बेमजे की हालत में पहुंचेंगे तब उनका यह हाल हो सकता है जैसा कि मेरा कि बेमजे की हालत से हटने को जी नहीं चाहता। अगर कोई मुझ से यह कहे कि तुम अपनी जान दे दो या मौजूदा हालत से अलग हो जाओ तो जान की कुर्बानी मुझे दिल से कबूल होगी। अब यह नहीं कहा जा सकता कि वह हालत क्या है ? शब्द नहीं जुबान नहीं कि उस को बयान कर सकूं।

मैं निर्मलता (Purity) की हालत को भी बन्धन कहता हूं। जब Purity और Impurity दोनों का एहसास समाप्त हो जावे तब Reality की शुरुआत समझना चाहिये और उसके आगे अनगिनत Stages हैं जो गिनने में नहीं आतीं। किन्तु यह याद रहे कि Purity और Impurity मिटने का खयाल नहीं बांधना चाहिये। कुदर्ती तौर पर जो हालत आती जाये उसे एहसास करते चलना चाहिये।

अहं ब्रह्मास्मि की हालत हर पर्दे और हर स्थान पर अनुभव

होती है। जितनी ऊंची हालत होती जाती है उतने अच्छे रूप में यह दिखलाई देती है। इसको मैं क्या लिखूँ मेरी मानेगा कौन! यदि मैं जबान खोलूं तो वेदान्ती यही कहेंगे कि यह गलत कहता है। और संभव है कि यह वेद वाक्य के विरुद्ध पड़े। जब हमको अहं ब्रह्मास्मि का भास होता है तो यह आवश्यक है कि किसी चीज से हम उसका अन्तर कायम कर लेते हैं। अथात कोई चीज अभी जरूर ऐसी है जो भेद अथवा अन्तर का अनुभव दे रही है। यह तो रही फिलास्फी और समझाने की बात। असलियत वहाँ है जहाँ यह भेद समाप्त हो जाये और फिर न अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव रहे और न उसके विरुद्ध। अब भी भाई कहने को तो पूर्णता हो गई किन्तु न जाने अभी क्या क्या बाकी है। मैं तो यही कहूंगा कि यहां पहुंचने पर भी दिल्ली दूर रह जाती है। अब भाई बताओ मैं क्या लिखूं। इसके आगे भी कुछ न कुछ जरूर लिखा जा सकता है किंतु कौन समझेगा और कौन मानेगा। खैर एक बात मैं इससे आगे की भी लिखे देता हूं वह यह कि वहां पहुंचने पर सूक्ष्मता बिल्कुल समाप्त हो जाती है किंतु बहुत बढ़ने के बाद। बस इससे आगे अभिव्यक्ति (Expression) के लिये शब्द नहीं मिलते। इतना मैं और कहे देता हूं कि उस हालत पर पहुंचने के बाद भूमा के निकट पहुंचने के लिये हजारों वर्ष भी कम हैं। बरन उस दशा पर (जहां कि सूक्ष्मता समाप्त होती है) जाने के लिये हजारों वर्ष चाहिये और फिर नहीं मालूम कितनी हजार सदियाँ भूमा के निकट पहुँचने में लगेंगी। मैं तो यही समझता हूँ कि इन हालतों को पार कराने की शक्ति हमारे गुरु महाराज के अलावा किसी में पाई नहीं जाती और यह अन्वेषण उन्हों का है कि शरीर रखते हुये यह Stages पार कराई जा सकती हैं।

कहां तक धन्यवाद ऐसी बुजुर्ग हस्ती को दिया जाये कि जिसने प्राणाहुत की विधि के द्वारा एक सेकेन्ड में उस हालत में सम्भव बना दिया। हम लोग सचमुच अन्धे हैं जो ऐसी बुजुर्ग हस्ती की तरफ नहीं देखते। जिसने वह काम कर दिखाया जिसके लिये अध्यात्मिकता का

इतिहास खामोश है। ईश्वर करे हम सबको यह हालत नसीब हो।

—एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत

॥ अभ्यास और साधन ॥

ले० काशीराम अग्रवाल

लोग कह देते हैं कि मन बड़ा चंचल है और यह बात ठीक भी है कि मन बड़ा चंचल है वश में होना कठिन है। किन्तु यह जानते हुये फिर भी लोग उस का उपाय नहीं करते। केवल रोग बहुत बुरा है कह कर उस रोग का हम इलाज नहीं करते तो होगा यही कि वह दिनों दिन और बढ़ता चला जावेगा। कह देने मात्र से रोग दूर नहीं होता उस का इलाज डाक्टरों वैद्यों द्वारा ही हो सकता है।

आपको अभ्यास बतलाया गया १-२ महीने किया भी लेकिन आप को विश्वास नहीं होता कि मन चंचलता छोड़ देगा और आप अभ्यास निराश होकर छोड़ देते हैं। यह अभ्यास का ही फल है कि लोग इतने बड़े भयंकर जंगली जानवरों को जैसे शेर चीता हाथी अजगर सर्प आदि को पकड़ लाते है तथा साधनों द्वारा उन को वश में कर लेते हैं। फिर कौन बड़ी बात है कि हम साधनों में लगे रहें और मन धीरे धीरे वश में न कर सकें। अनजान व्यक्ति को जंगलों में जाने मात्र से ही भय लगेगा लेकिन जिसने अपने गुरू (Master) की शरन लेकर उन सबको पकड़ने के तरीके सीखे हैं और अभ्यास किया है तो उसके लिये भारी से भारी क्रिया भी आसान हो गई।

शेर को गोली का शिकार सहज ही बनाया जा सकता है लेकिन मानव उस शेर को तो जिन्दा ही धर पकड़ कर लाता है यह अभ्यास का ही फल है किन्तु हमारे लिये शेर तो क्या बंदर पकड़ना भी कठिन है क्यों कि हम तरीकों से अनजान हैं। बंदर का उदाहरण हम लोगों के सामने हैं बाजीगर साधनों द्वारा बंदर को पकड़ कर तरीकों से खूंटे से

बांध कर रखते हैं कुछ दिन खूंटे से बंधे रहने से उसकी चंचलता कम हुई तथा सिखाया पढ़ाया गया गले से अब डोर भी खोल दी गई इस लिये अब भागने का डर नहीं रहा अब बाजारों में जाकर नचाता है जो बाजीगर आदेश देता है बंदर उसका पालन करता है उस बंदर को इंसान नचा रहा है जो बंदर इंसान को नचा मारते हैं। अब बंदर की चंचलता चली गई अब हजारों आदमियों की भीड़ में किसी को डराता नहीं न नुकसान ही पहुँचाता है वृक्षों पर कूदने की इच्छा भी बहुत कम रह गई और बाजीगर के हाथों का खिलौना बन गया अगर मनुष्य चाहे तो उस मन को जो हमें बुरा लगता है अपने वंश में कर सकता है कोई कठिन बात नहीं है। लेकिन एक ही दिन में पेड़ लगा कर आम खाने की तमन्ना न करें। सहज मार्ग की पद्धति बड़ी सहज है। हम हृदय पर ध्यान (Meditation) करते हैं हृदय मन को बांधने का खूंटा है तथा कुछ दिन के अभ्यास के बाद मन अपनी चंचलता छोड़ देना शुरू कर देता है जितना तीव्र अभ्यास होगा उतनी ही शीघ्र मन एकाग्र होना शुरू हो जाता है।

बाद में हम मन के स्वामी हो जाते हैं जो हमारा जबरन ही स्वामी बन बैठा था। तथा अब मन धोखा दे देगा यह भी अभ्यास के बाद भय नहीं रहता तब अभ्यास की भी आवश्यकता नहीं रहती इस लिये कि यह तो मन को बाँधने का एक खूंटा था जब मन ने अपनी चंचलता छोड़ दी तो भय नहीं रहता योगियों की तरह हर जगह विचरण कर सकता है मन धोखा नहीं देगा।

॥ ओ३म् ॥

(ले० श्री रामदास जी गुप्ता तिनसुकिया आसाम)

परम आदरणीय एवं पूज्य श्री बाबूजी भाइयो एवं बहनों,

इस पृथ्वी तल पर अगणित नर नारियों का प्रादुर्भाव हुआ तथा उनका विलियन भी पर इतिहास ने उन्हीं महापुरुषों तथा देवियों को स्थान दिया जिनके कार्य आर्थिक राजनैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान में सहायक हुये। उन्हीं महान आत्माओं की यादगार में हम उनकी जन्म तिथि बना कर उनके किये कार्यों की उपकृति में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। इसी संदर्भ में आज हम पूज्य श्री लाला जी की जन्म तिथि के अवसर पर एकत्रित हुए हैं। उनका कौन सा कार्य ऐसा करने के लिये हमें उत्प्रेरित करता है उसी पर मैं अपना विचार आप सबों के सामने रखूंगा।

सबसे प्रमुख कार्य उनका योग का आधुनिकरण करना हुआ। उनकी योग की नवीन परिभाषा ने योग की भयानकता तथा दुरुहता ही खत्म कर दी। जिस योग को हम सिर्फ योगियों ऋषि और मुनियों की चीज समझते आरहे थे उसको उन्होंने सर्वग्राह्य व नित्य का व्यवहारिक बतलाया। योग का साधारण अर्थ जोड़ मिलन या मिलाप है। जिस सुख या आनन्द की खोज मानव ही क्या प्राणी मात्र को है वह इसी मिलन में ही है। आप ने अनुभव किया होगा कि जब कभी अपने बच्चे को गले लगाते हैं तो उस मिलन में हमें शारीरिक आनन्द की अनुभूति होती है। अपने प्रिय मित्र माता पिता यहां तक प्रिय भोजन के मिलन में भी आनन्द की क्षणिक अनुभूति होती है जिसे हमें नित्य ही अनुभव करते हैं लेकिन इस क्षणिक आनन्द के बाद वियोग का दुसह दुःख भी सामने आता ही है। वह इसलिये कि हमने अपना नाता सिर्फ नश्वर चीजों से ही कर रखा है। नश्वर चीजों का मिलन भी नश्वर ही होता है अतः पूज्य लाला जी ने हमें संकेत किया उस ईश्वर से अपना मिलन कर जो नश्वर नहीं है। उसके मिलन के बाद फिर वियोग का प्रश्न नहीं।

परम दयालु लाला जी ने सिर्फ ईश्वर मिलन का संकेत करके ही

नहीं छोड़ा बल्कि मिलन का अति सहज मार्ग भी बतलाया। उन्होंने पूर्व ऋषियों द्वारा वर्णित आष्टांग योग की दुरुहता पर भी ध्यान दिया तथा आधुनिक आत्मायु मानव के लिये उसका प्रतिपादन असम्भव बतलाया। उन्होंने गीता में वर्णित कर्म योग भक्ति योग व ज्ञान योग का एकीकरण किया। पूजा के पहले हम प्रार्थना करते हैं वह हमारा कर्म है ध्यान हमारी उपासना तथा उससे प्राप्त अनुभूति ही ज्ञान प्राप्ति है। पूजा की शोध की हुई अत्यन्त अर्वाचीन प्रणाली जिसपर हमारे श्रद्धेय भाइयों ने अभी प्रकाश डाला वह उसी प्रकार प्रभावकारी है जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक के जीवन भर ही शोध का सफल परिणाम अल्पकाल में अपना प्रभाव दिखलाता है।

पूज्य लाला जी की व्यापक दृष्टि में मानव की अल्पज्ञता पर भी ध्यान दिया। उन्होंने सहज मार्ग बतलाकर ही सन्तोष नहीं किया बल्कि अभ्यासी के ईश्वर प्राप्ति में त्वरित उन्नति के लिये Transmission या शक्ति सम्चार नाम का एक अमोघ अस्त्र रखा। जो अभ्यासी को उसके मार्ग तय करने में चीटी की चाल न देकर पक्षी की गति देता है यद्यपि Transmission कोई नई चीज नहीं बल्कि अति प्राचीन है। क्योंकि इसका वर्णन महाभारत के द्वारा संजय तथा अर्जुन के विराट दर्शन के प्रसंग में आता है। परमहंस रामकृष्ण द्वारा स्वामी विवेकानन्द का ट्राँसमिट किये जाने की चर्चा तो अभी हाल की ही बात है। लेकिन इसका व्यवहारिक एवं सोधित रूप तो पूज्य लाला जी की अपनी देन है।

पूज्य लाला-जी की ही देन श्रीद्धेय बाबूजी हमारे बीच मौजूद है जिनके प्रकाश से हम सब प्रकाशित हो रहे हैं। उन्होंने जो मार्ग जो प्रकाश विश्व के सामने रखा उसका प्रयोग कर ही मानव सच्चे अर्थ मानव बन सकता है एक सच्चा भाव ही अर्थ राजनीति तथा आध्यात्म का भी ठीक ठीक प्रतिपादन कर सकता है। अतः इतिहास इस महामानव को कैसे भूल सकता है।

अन्त में मैं उस तेज पुञ्ज श्री लाला जी को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

हमारा उत्सव

(ईश्वर सहाय)

हमारे मिशन का वार्षिकोत्सव बसन्तपंचमी के अवसर पर होता है। इस वर्ष यह जनवरी मास में हुआ था। दूर २ से लोग यहाँ तक कि आसाम, मद्रास, पँजाब, मध्यभारत इत्यादि प्रान्तों से आकर सम्मिलित हुये। यह उत्सव नियमानुसार दो दिनों तक रहा। दोनों दिन अमृतवर्षा बराबर होती रही। ईश्वरीय फैज (Divine Grace) का यह हाल था कि हर चीज उससे भरपूर थी। दरो दीवार से फैज बह रहा था। खाने पीने की समस्त वस्तुओं यहां तक कि कुए का पानी भी फैज से भरपूर था। अर्थात सब लोग फैज के समुद्र में डूबे हुये थे। श्वाँस से भी हर समय हम वही चीज खींचते थे। वास्तव में अमृत वर्षा यही कही जा सकती है।

साधारणतया लोगों की निगाह सबसे पहले झण्डियों एवं तस्वीरों से सुशोभित लम्बे चौड़े पंडाल पर ही जाती है। जहाँ यह नहीं वहां कुछ भी नहीं। यही नहीं बल्कि इस पण्डाल में भी एक ऊंचा सजा हुआ मंच हो जिस पर रंगारंग के धुरन्धर महात्माओं की जिन्दा मूर्तियां बिराजमान हों। खूब चहल पहल हो। गाना बजाना कीर्तन इत्यादि की ध्वनि आसमान से टकराती हो। लाउडस्पीकर की चिंघाड़ उपदेशों की बौछार कर रही हो। तब मालूम हो कि कुछ है। इसके मुकाबिले हमारे यहां का सन्नाटा और खामोशी उन लोगों को कैसे पसन्द आवे। वहाँ कम से कम कुछ देर के लिये दिलबहलाव एवं मनोरंजन का सामान तो है यहां वह भी नहीं। तो फिर इस रूखे सूखे मैदान की तरफ कौन झुके। इस तरफ तो वही कदम रखेगा जिसको वास्तविकता की प्यास हो

और इस तक पहुंचता हो । यहां तो केवल यही है जैसा कि कबीरदास जी ने कहा है:—

"दूल्हा मरि गयो मड़वा जरि गयो,
दुलहिन भई अहिवातिन"

हमारे यहां अधिकतर जो लोग आते हैं आध्यात्मिक लाभ की ही इच्छा से आते है और अपनी लगन एवं प्यास के अनुसार उसी अन्दाज से फायदा उठाते हैं । मगर फिर भी यह सम्भव है कि उसमें दो चार ऐसे भी हों जो केवल लोकाचार के नाते आये हुये हों जैसे कि किसी आध्यात्मिक क्लब में सैर या मनोरंजन हेतु आये हों और वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न रखते हों ।

वर्षा का नियम तो यही है कि जो वस्तु सामने हो उसको तरबतर करदे। यही हाल इस आध्यात्मिक वर्षा का भी है जो सब पर एक समान पड़ रही है । मगर फिर भी कुछ लोग तो इससे तरबतर हो जाते हैं और कुछ ज्यों के त्यों सूखे बने रहते हैं । अब प्रश्न उठता है कि यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका वास्तव में कारण यह है कि वर्षा तो हर जगह एक समान है फिर भी उसका प्रभाव हर जगह पर भिन्न भिन्न होता है । मुलायम मिट्टी वाली जमीन पर तो कीचड़ एवं दलदल बना देती है बालू वाली जमीन पर पानी नीचे तह में प्रवेश कर जायेगा और उपरी तल पर उसका बहुत कम चिन्ह दिखाई पड़ेगा । मगर सीमेन्ट की बनी हुई छत पर पानी जिस तेजी से पड़ेगा उसी तेजी से परनालों द्वारा बह कर निकल जावेगा यहाँ तक कि वर्षा के बाद उस पर वर्षा का कोई चिन्ह बाकी नहीं रहेगा। अब स्पष्ट है कि वर्षा हर जगह पर एक समान होते हुये भी उसका प्रभाव अनेक स्थान पर पृथक पड़ा ।

वर्षा से बचने के लिये लोग छाते का प्रयोग करते हैं ताकि वर्षा से न भीगें । इससे बचाव भी बहुत कुछ हो जाता है मगर फिर भी इधर उधर की छीटों और बौछारों का असर पड़ता ही है । उन्नति के

इस युग में लोगों को यह भी गवारा नहीं । इसलिये पूर्ण बचाव के लिये वाटर प्रूफ (Water proof) का प्रयोग शुरू हो गया । अब वर्षा से बचने का पूरा साधन हाथ आ गया । वर्षा तो अपना काम कर ही रही है परन्तु जो लोग वाटर प्रूफ ओढ़े हुए हैं वह उससे सुरक्षित हैं इस अमृत वर्षा में भी जो लोग वाटर प्रूफ धारण किये हुये हैं या सीमेंट की चट्टान बने हुये हैं वे इसके प्रभाव से बचे ही रहेंगे ।

प्रश्न उठता है कि यह 'वाटर प्रूफ' क्या है ! यह केवल हमारे ठोस विचार हैं जिनको हम (Mechanical) यांत्रिक क्रियाओं द्वारा इतना सख्त और कड़ा बना देते हैं कि वह पत्थर की चट्टान के समान हो जाते हैं । हम उन्हीं में उलझे रहते हैं और उनसे हटने का भी जी नहीं चाहता है । इनसे छुटकारा तभी सम्भव हो सकता है जब हम उनसे अलग होने की एक प्रबल धारणा अपने मन में बना लें और ऐसे महा-पुरुष की शरण में आवें जो सूक्ष्मता में पूर्ण रूप से प्रवेश कर चुका हो और उसमें समाया हुआ हो ।

ईश्वर अत्यंत सूक्ष्म है और उसकी प्राप्ति का अर्थ भी यही हो सकता है कि हम भी मानव क्षमता की सीमा के अन्दर अत्यंत सूक्ष्म बन जावें । इसके लिये आवश्यक है कि हम स्थूलता का आवरण जहां तक सम्भव हो सके हटा दें ।

ईश्वर अत्यंत सूक्ष्म है । उसकी प्राप्ति का अर्थ भी यही है कि हम अपने आपको भी इन्सानी हद के अन्दर जहां तक मुमकिन हो सके सूक्ष्म बनाले अर्थात स्थूलता को दूर करते जावें । इसकी विधि यही हो सकती है कि हम सबसे पहले अपने स्थूल विचारों स्थूल कल्पनाओं और स्थूल क्रियाओं को छोड़कर सूक्ष्मता ग्रहण करने की कोशिश करें और उसी ओर बढ़ते जावें । मतलब यह है कि अपने आप को ऐसा बनाने का प्रयत्न करे कि अन्दर की स्थूलता इस हद तक कम हो जावे कि हम ईश्वरीय कृपा ग्रहण करने के योग्य बना सके । अन्यथा स्थूलता की चट्टान

पर पड़ती हुयी। अमृत वर्षा का ठीक वही हाल होगा जो कि सीमेंट की बनी छत पर वर्षा के पानी का होता है।

अतः हमें अपने आपको ऐसा बनाना है कि ईश्वरीय कृपा की वर्षा का असर अपने ऊपर ले सकें। इसलिये आवश्यक है कि स्थूलता के वह तह पर तह आवरण हटाते जायें ताकि ईश्वर कृपा (Divine Grace) के पात्र बन सकें। स्थूलता को दूर करने के लिये जरूरी है कि ऐसे ढंग ऐसे साधन और ऐसे क्रियायें जो स्थूलता बढ़ाने वाली हैं उन से अलग हटें और सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करें।

हमारे यहाँ की साधना की यही विशेषना है। हम शुरू से ही ऐसी धारणा बनाते हैं कि स्थूल प्रभाव हम पर न पड़ने पावे। इसी कारण ध्यान का लक्ष्य भी हम ऐसा ही लेते हैं कि जो जहाँ तक सम्भव हो सके सूक्ष्म हो और अभ्यास में भी इसी बात का खयाल रखते हैं।

॥ भावना ॥

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी, बरेली)

कहते हैं कि जैसा मनुष्य होना है वैसी ही उसकी प्रतिभा होती है एवं वैसा ही उसका व्यक्तित्व होना है और जैसी मनुष्य की भावना होती है वैसा ही उसका व्यक्तित्व दर्शित होता है। किसी महापुरुष के व्यक्तित्व और आचरण को अपना पाने का प्रयत्न करने वाले को महापुरुष कहा जाता है किन्तु परम प्रिय 'मालिक ईश्वर' के सम्पूर्णतयः अपनाने का सतत् प्रयत्न करने वाले को साधक कहते हैं। इससे पृथक इससे भिन्न इसके अतिरिक्त साधक का कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता है। अपने प्रत्येक कार्यों एवं रहनी के प्रत्येक आचरण में पियतम ईश्वर अथवा सद्गुरु का पावन सामीप्य ग्रहण करने की भावना को ही समर्पण कहते हैं। प्रत्येक कार्य करण एवं विचार सरनी एवं रहनी में कर्त्ता के

स्थान पर 'मैं' का भाव होना ही स्व अर्पण हो जाता है जो कि बंधन का कारण बन जाता है। इसके विपरीत ही यदि कर्त्ता के स्थान पर भावों के श्रोत में एक मात्र खोज एवं मिलन का लक्ष्य 'सद्गुरु' अथवा 'ईश्वर' ही हो जाता है तो वही समर्पण हो जाता है जो मुक्ति का कारण बन जाता है।

किन्तु! ऐसी उद्धारमयी वह कौन सी एक भावना है जो साधन काल में हमें पग पग पर सहायता देती है। हमारे समक्ष विस्तृत विशाल आध्यात्मिक क्षेत्र में सरस एवं पावन ईश्वरीय धारा से हमारे वाह्य एवं अंतर सबको ही परवार जाती है जिससे साधक मन की प्रत्येक गति मति एवं रति सबका रुख केवल ऐसी ही भावना की ओर उन्मुख हो रहना है कि "मेरा तो सब कुछ 'ईश्वर' करता है और जो कुछ होना है उस 'प्रियतम' की प्रसन्नता के निमित्त ही होना है"। यही वह एक सद्गुरुमई अथवा ईश्वरीय भावना है जो साधक को ईश्वर से सम्बन्धित कर 'उसन्मय' ही बना देती है। ऐसे ही उद्धारवती भावों द्वारा संजोई गई यह 'ईश्वरमई भावना अत्यन्त उदार एवं सरल होती है। अपने अतिरिक्त अपने हृदय के अत्यन्त 'प्रिय' को ही समक्ष रखना ही वास्तविक साधना है और इससे सरल उपाय भी दूसरा नहीं हो सकता।

अपने प्रत्येक विचार कार्य एवं भावों को अपने इष्ट अथवा लक्ष्य में ही समाहित करते रहने पर हृदय में ऐसी उदार भावना का जन्म होता है। किन्तु जब प्रत्येक कार्य एवं विचार अपने लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति में स्वतः ही समाहित होने लगता है अन्यत्र भटकता ही नहीं। निरंतर मानसिक समर्पण की ऐसी भावना द्वारा वाह्य वृत्तियां स्वतः ही अंतर्मुखी होने लगती हैं तब ऐसी भावना में परिपक्वता का समावेश होता है एवं अंतर्मन में सहज ही समाधिस्थ अवस्था प्रवेश पाने लगती है। वाह्य मन प्रत्येक विचारों, भावों अथवा रहनी को प्रियतम मालिक' के लिये अंतर्मन से समर्पण करता हुआ जब समर्थ हो जाता है तब फिर अंतर में एक दिव्य परिपक्वता का समावेश होता है। जब भावना में वास्तविकता

जागरुक हो जाती है तब भावना मानों साकार हो उठती है । परिणाम स्वरूप तब साधक का वाह्य एवं अंतर सरस, सलोनी एवं दिव्य लय अवस्था का मानों प्रतीक हो जाता है जो आध्यात्मिकता का प्राण है । प्रियतम इष्ट के रंग में ही पूर्णतयः रंग जाना एवं पूर्ण रूपेण 'उसके' ध्यान में समा जाना ही लय अवस्था है । तब साधक के लिये केवल इतना ही शेष रह जाता है कि वह 'मालिक' के ध्यान में जितना ही गहरा पैठता जावे एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिक गतियों के रत्न युगता जावे । तब वह धोखा नहीं खाता । उसके समक्ष दूध का दूध और पानी का पानी हो जाता हैं उसकी अंतर दृष्टि में सतत् सद्गुरु की पावन प्राण शक्ति द्वारा वह दिव्य दृष्टि समा जाती है जो उसे आगे का मार्ग दर्शाती है । भला सोचिये तो एक ईश्वर अथवा सद्गुरुमयी इस छोटी सी किन्तु श्रेष्ठ भावना ने जन्म जन्मान्तरों का काम चंद दिनों में ही सुलझाकर रख दिया । सदाचार में समावेश, आचरण में दृढ़ता, वाणी में मधुरता एवं हृदय में अपनत्त्व का साम्राज्य लिये, उसका सबके प्रति इतना ही मौन संदेशा रहता है कि:—

" उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे,
मेरी श्वाँसें करती रहती नित प्रिय का अभिनंदन रे" ।

उस बेचारे समत्व योगी को प्रेम जीत लेता है किंतु वह प्रेम को नहीं जीत पाता क्यों कि तब सद्गुरु के हृदय रूपी महासागर में व्याप्त वह जज्बा कि "सब उन्नति करें एवं सभी ईश्वर को प्राप्त करें" साधक भी उसी जज्बे में डूब जाता है । सद्गुरु रूपी जननी का अविर्भाव जगत् के प्राणियों के उद्धार के हेतु समस्त के लिये स्नेह एवं समर्पण की ऐसी भावना सहित ही पृथ्वी पर होता है । अवतार एक व्यापक एवं विशेष प्रकृति कार्य के लिये धरणी पर अवतरित होते हैं । उसकी व्यापक कृपा–दृष्टि विशेष रूप से अपने कार्य के लिये सतर्क रहती है । उसके कार्य अथवा लीला में सहयोग देने वाले बड़भागियों पर अवश्य ही उसकी अति कृपा होती है । वह अपनी मर्यादामयी अपार शक्ति से जगत का उद्धार

करता है । उसमें भावना प्रधान नहीं वरन् प्रकृति कार्य ही प्रधान होता है परन्तु 'सद्गुरु' की महाशक्ति एवं प्राणीमात्र के कल्याण की भावना उस मर्यादा का भी उलंघन कर अपने भूले भटके बालकों को राह पर लाकर अनंत एवं अगाध ईश्वरीय गतियां प्रदान कर उनका जीवन धन्य बना देती है । बालकों के प्रति जननी की कल्याण एवम् स्नेह भावना एक प्रकार से एक नवीन एवम् अलौकिक समर्पण की भावना का ही द्योतक होती है जो प्रियतम 'सद्गुरु' के हृदय में पैठने पर ही प्रत्यक्ष हो पाती है यही कारण है कि जब कोई बड़भागी साधक सद्गुरु में ऐसी उदार एवं व्यापक ईश्वमयी भावना की प्रतिष्ठा कर लेता है तो उसे सद्गुरु की उस उदार भावना एवं व्यापक जज्बे एवं शक्ति का बड़ा सुदृढ़ सम्बल मिल जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक क्षेत्र में पग पग पर उसे सफलता ही प्राप्त होती जाती है । निराशा अथवा असफलता उसके लिये कोष में लिखी ही नहीं जाती क्यों कि वह तो परम प्रियतम सद्गुरु की परम शक्ति से ही सम्बन्धित हो रहता है जो निर्बाणदायिनी है एवं जिसकी गति अपरोक्ष है । तब ऐसा प्रतीत होता है कि उन दो नयनों की ज्योति किसी के आने की बाट जोहने २ लौ बन चुकी होती है । बिना बाती के वे दो दीपक किसी के आगमन की प्रतिक्षा रूपी ज्योति से जगमग हो उठते हैं । सद्गुरु ऐसा दर्पण होता है कि वह नयनों की डगरी से मन में पैठ कर दिल की नगरिया को लूटकर उसे बीरान बनाकर उजाड़ कर छुप जाता है । प्रत्यक्ष में वह नहीं उसकी करुणा ही रहती है ।

पवित्र आध्यात्मिकता एक महासागर है जिसमें प्रत्येक भावों एवं भावनाओं की एक मर्यादा होती है । 'सद्गुरु' की पावन प्राण शक्ति द्वारा इस महासागर में पैरते पैरते साधक की हर गति मति प्रेम भक्ति एवं विश्वास बाह्य एवं आंतरिक सारी दशायें एक दिन सब अपनी साम्य गति पर आकर उसी मर्यादा में मिलकर एक हो रहती है । उसके विशुद्ध परिणाम स्वरूप तब ईश्वरीय कृपा एवं देन का दैनिक एवं अनौतिक गति से प्रवाहित होना प्रारम्भ हो जाता है और स्थिति प्रज्ञ वह अपने

में ही खोया साधक सर्व व्यापक गति लिये प्रत्यक्ष फिरता है। किन्तु यह सब कुछ सर्वमयी ईश्वरीय भावना का ही प्रतीक होता है। ऐसी सुदृढ़ भावना को प्राप्त करके ही भक्त प्रहलाद उस लौह स्तम्भ में से अपने प्रियतम प्रभु का साक्षात्कार कर पाने में समर्थ हो सके थे। इसी विशुद्ध भावना में ही भक्तिमती मीराबाई को विष का अमृत बना देने की शक्ति प्रदान की थी। भावना की ही ऐसी अटल गति ने भक्त ध्रुव को ध्रुवपद प्राप्त कर पाने की सामर्थ प्रदान की थी प्रियतम के प्राप्ति की सच्ची तड़प भावना को साकार कर दिखाती है। संयम एवं सदाचार साधक जीवन में गति प्रदान करते हैं। सदाचार के सुन्दर सत्य एवं सहज नियमों को सुदृढ़ सर्वमयी ईश्वरीय भावना द्वारा ही हम अपने जीवन में उतार पाते हैं। वास्तव में प्रेम की बस्ती को हृदय में संजोने में ही उसकी गरिमा है एवं उस गरिमा का सौंदर्य है प्रियतम पर अपने को लुटा देने वाली तड़प की प्राप्ति कर लेना।

यह सत्य है कि पूर्ण से पूर्ण एवं अथाह से अथाह की प्राप्ति की जा सकती है। 'इश्वर' अथवा सद्गुरु पूर्ण हैं और साधना एवं ईश्वरीय भावना अथाह है जिससे अगाध इश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है। वह साधना अथवा भावना किस काम की जिससे तत्क्षण मन की अवस्था न बदलने लग जावे। वह ऐसा जादू है जो सिर पर चढ़ कर बोलता है। हाथ पर सरसों जमाना इसी को कहते हैं। इसी प्रकार एक ईश्वरीय भावना एवं सहज साधना द्वारा आध्यात्मिकता रूपी महासागर का किनारा मिल जाता है एवं उससे भी परे महासुनसान बन में भी रास्ते का ठिकाना मिलता जाता है।

सहज मार्ग में हम सभी साधक भाइयों व बहिनों के अंतर में प्रत्येक के यह ईश्वरमयी भावना स्वयं ही जाग्रत हो उठती है परन्तु हमें अपने को पग पग पर सावधान रखना चाहिये कि कहीं कोई भावना कोरी भावनाही बनकर न रहजाये। आध्यात्मिकगतियोंका अनुभवहमकेवलअनुमान एवं सुनने पर ही न लगा बैठे। हमें प्रतिक्षण सतर्क रहना चाहिये और

इतना सा तो यह हमारा कर्तव्य भी है। क्यों कि भाई सुन्दर सुकोमल पुष्पों के साथ ही काँटों का भी योग रहता है। सहज कोमल भावना का केवल बाह्य रूप अथवा गलत मोड़ ले लेने पर वह बजाय सुलझाने के हमें कांटों से बींध देने वाली बन जाती है। प्रत्येक भावना एवं गतियों का सही कार्य एवं परिणाम हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब प्रत्येक का रूख अंतर्मुखी हो एवं लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति हो। बहुधा ऐसा देखने में आया है कि जिह्वा कहती है कि "अमुक कार्य सब भगवान अथवा गुरु महाराज करेंगे किन्तु ऐसा कहते समय भी हृदय में ऐसी भावना का कहीं निशान तक नहीं होता। सच तो यह है कि भावना एवं भक्ति के साथ साथ हममें अपनी निरंतर उन्नति की बिह्वलता अत्यन्त आवश्यक है। यदि हमारे हृदय में 'प्रिय' से मिलने की तड़प ही न जगी तो फिर हम किसी भी भावना एवं गति को अन्तर में किस प्रकार पैठा सकते हैं। कांटों की शय्या पर पड़े पुष्पों का गीत गुनगुनाने से लाभ ही क्या ?

ईश्वर प्राप्ति के लिये हमें ऐसे सहज से साधन को ही अपनाना चाहिये जो हमारे मन पर कर्त्ता का भाव न पड़ने दे। इसी प्रकार प्रत्येक भाव एवं भावना का हमें सहज रूप ही हृदयाँगम करना चाहिये जो हमें लक्ष्य की ओर ही खींच लेजाने वाला हो और हम उससे भी अनजान ही रहें तभी उसमें सद्गुरु शक्ति का बल मिलता जाता है। अपनी उन्नति के लिये हम प्रतिक्षण बेचैन रहें यदि ऐसी कुवेदना हमारे अन्तर में नहीं जागती तो फिर हम किसी भी भावना एवं ईश्वरीय गतियों का साक्षात्कार कैसे कर सकते हैं ? 'मालिक' से मिलने की तड़प ही हमें अन्तर में खींचकर आध्यात्मिक ईश्वरीय गतियों की सैर के लिये तैयार करती है नहीं तो सांसारिक उत्सवों के मध्य हम अपने मन को उसके रस पान करने के लिये छोड़ देते हैं पावन ईश्वरीय धारा रूपी अमृत रस को हृदय में सहेज लेने की सुधि ही नहीं रखते। अपनी इस छलना द्वारा हम स्वयं ही छले जाते हैं। ईश्वरीय मार्ग में केवल कथनी की कथरी लपेटे हम अपने अंतर में 'उसकी' प्राप्ति की वह बिह्वलता नहीं उत्पन्न कर पाते जिससे सद्गुरु के उस उदार जज्बे में योग दे सकें जो हमारी

उन्नति के लिये बेचैन है । जो हमें पुनः पुनः जागरण का संदेश देती है कि:—

"भूली यौवन मद करै अरी बावरी बाम,
यह नैहर दिन दोय को अंत कंत सौं काम"।

वास्तव में अहंता रूपी ग्रन्थि का वह अन्तिम छोर जब हमारे हाथ लग जाता है जहाँ से वह सहज ही खुलती जा सके। वह सहज सर्वमयी ईश्वरीय भावना ही हो सकती है जिसे सद्गुरु की पावन प्राण शक्ति ही हमें सरलतापूर्वक गहा सकती है । किन्तु नही ! समय अब यही पुकार रहा है 'सहज मार्ग' हमें यही आवाज लगा रहा है कि गलत छोर हाथ लगे ही क्यों ? भोर की लाली आज हमें जागरण का संदेश देरही है किन्तु हमें ही जाग उठने में देरी लग रही है जबकि पशु पक्षी तक भोर का संदेश ग्रहण कर पाने के लिये नित्य समय से ही जाग उठते हैं । परन्तु हमें जागना होगा ! सद्गुरु की सर्वव्यापक कृपा एवं शक्ति हमें जाग उठने को मजबूर कर रही है। जिस प्रकार काले बादलों के आँगन में बिजली की एक कौंधन आकाश से लेकर पृथ्वी तक की अंधेरी दूर कर जाती है उसी प्रकार सद्गुरु की कृपा शक्ति रूपी बिजली द्वारा ईश्वर प्राप्ति की तड़प रूपी कौंधन हृदय में उत्पन्न हो जाने पर अंतर एवं बाह्य तक की सारी अंधेरी दूर होकर ईश्वरीय प्रकाश से जगमगा जाती है । वास्तव में हमारा व्यवहार हमारा आचरण तो वह दर्पण है जिसमें हमारा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है । यदि हमें अपने भीतर शाँति मिल गई तो सारा संसार हमें शांत ही प्रतीत होता है। किन्तु जब प्रियतम के आवाहन की आहट पर हृदय रूपी प्रांगण में एक अपूर्व ज्योत्सना छिटक जाती है। मन का मधुबन जब एक मोहक मोहिनी से पुलक उठता है। सुरति प्रियतम के आवाहन पर भर भर उठती है। अंतर स्वयं एक विश्वम्ह प्रहरी सा बन बैठता है वही हमारा वास्तविक रूप होता है । यद्यपि तब ईश्वरीय तड़प का सेंक दुनियां को बीराना बना देता है किन्तु दु नयां से वह बीरानापन साधक को एक ऐसी भोली मासूम

हालत पर ला खड़ा कर देता है कि वह पुकार उठे कि माँ ! मुझे भोजन दे मुझे भूख लगी है और तभी वात्सल्यमई सद्गुरु रूपी जननी का वात्सल्य जाग उठता है और उसके वरद् हस्त अपने उस बालक को सदा सदा के लिये हृदय में समेट लेते हैं । अपने पावन चरणारविंदों में लिपटे अपनी शरणागत् बालक के शीश पर हाथ फेरते वह वात्सल्य निर्झरिणी मां धीरे धीरे उसे आश्वस्त करती है कि:—

"जहां कहीं है ज्योति जगत में जहां कहीं उजियाला,
वहीं खड़ा है कोई अन्तिम मोल चुकानेवाला,।।"

★ गीत ★

(श्रद्धेय श्री बाबू जी महाराज के प्रति)

—मृगेश

तपोमूर्ति, जब तुम जन्मे थे जनम लिया था तभी प्रभा ने।
जनम जनम के नयन उनीदे तुमने खोल दिये अनजान ॥
कितनी जटिल ज्ञान की राहें योगपथ कितना दुर्गम था।
अनगिन सोपानों पर चढ़ना कितना दुस्तर और विषम था ॥
अनगिन जीवन भटक रहे थे अनगिन श्वासें थकी थकी थीं।
पर तुम सहज मार्ग का दीपक लाये तम के द्वार जलाने,
तपोमूर्ति जब तुम जनमे थे— ।
जनम जनम के नयन उनीदे,— ॥
तुमने दिये नये नयनों को तुमने दी अन्तर को वाणी।
बदली पूजन की परिपाटी स्नात हुए सुख रस में प्राणी ॥
उत्तर एक प्रश्न का कितना सत्य और सुन्दर निकला है.
शंका लेगी जब महफ़िल में दौड़ेंगे अनगिन परवाने,
तपोमूर्ति जब तुम जनमें थे— ।
जनम जनम के नयन उनींदे— ॥
साथ गृहस्थी भी हंसती है कैसा सन्यास तुम्हारा।
एक नया जीवन देता है श्वासों को आभास तुम्हारा ॥
किरणें चमक रही हैं ज्यों ज्यों छूट रहा है तम का पहरा.
शून्य प्राणों तारों में गुंजन भरा आज तेरी वीणा ने,
तपोमूर्ति जब तुम जनमे थे— ।
जनम जनम के नयन उनींदे — ॥
कभी कृष्ण ने विपथ पार्थ को आत्मशक्ति का आश्रय लेकर।
अंतर का अज्ञान छला था अर्जुन को प्राणाहुति देकर ॥
तुमने भी जीवन के काटों में प्राणाहुति का आश्रय लेकर,
उंगली पकड़ चले साधक का अपनी मंजिल तक पहुंचाने,
तपोमूर्ति जब तुम जनमे थे जनम लिया था तभी प्रभा ने।
जनम जनम के नयन उनींदे तुमने खोल दिये अनजाने ॥

(जगदीश कुमार श्रीवास्तव एम० ए० मृगेश)
तहसील फतेहपुर (बाराबंकी)

॥ योग और साधनों के पथ पर ॥

(उमाशंकर आर्य सीतापुर)

साधना का गूढ़ सम्बन्ध उपासना से है। उपासना का अर्थ है अपने इष्टदेव के समीप बैठना। सन्ध्या के भी यही अर्थ हैं आत्मा और ईश्वर का मिलन अथवा योग। साधारण जन सन्ध्योपासना से तो आश्चर्य चकित नहीं होते पर योग का सुनते ही पढ़ा लिखा व्यक्ति भी अचानक चौंक पड़ता है सर्व साधारण की कौन कहे।

यूं तो समस्त मानव समाज ईश्वर की सत्तामें आस्थावान है। हां देश कालभाषा की भिन्नता ने इसे अनेकानेक नामों से पुकारा है। उसकी प्राप्ति के लिये उतने ही अनेकानेक मार्ग भी बताये हैं। हमारा "सहज मार्ग" भी एक पथ है। यह पथ कितना सरल और सुगम है हमको स्वयं ही अनुभव होने लगेगा। बिलम्ब केवल उसके निकट आने और समझने का ही है।

अभी तक 'योग" को बड़ा कठिन मार्ग समझा जाता रहा है। इसे यह कहकर अत्यन्त जटिल बना दिया गया कि उसके लिये तो घर-बार छोड़ कर गृहस्थ धर्म से वैराग्य लेना होगा और वनों में रह कर उसकी खाक छाननी पड़ेगी। बात ऐसी नहीं है। ईश्वर बड़ा ही सरल और उसके पास पहुंचने के साधन भी उतने ही सरल होने चाहि। यदि हममें तड़प है उसके पाने की अटल विश्वास है उसमें लय होने के लिये तो हम अविलम्ब ही उस तक पहुंच सकते हैं। उसके लिये गृहस्थी के त्याग की आवश्यकता नहीं और न आवश्यकता है अरण्य सेवन की।

"सहज मार्ग" के अधिष्ठाता हमारे परम पूज्य "बाबूजी" महाराज की यह अनुपम और अद्वितीय देन है कि हम गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुये भी योगाभ्यास कर सकते हैं। यह कोई नया उदाहरण नहीं है। हमारे पुनीत शास्त्रों में से इसे 'राजयोग की संज्ञा दी गयी है। इस मध्य यह विद्या हममें से विलुप्त हो गयी थी। सागर मन्थन करके

'बाबूजी' महाराज आधुनिक काल में इसे हमारे सामने लाये हैं राजा जनक तथा योगेश्वर कृष्ण इस पथ के प्राचीन उदाहरण है और आज भी उनके प्रमाण ज्वलन्त हैं।

हमारे प्रभु का यही आदेश है कि दुनियांदारी करो और मुझको चाहो। जो केवल दुनियांदारी में लगा रहता है वह ईश्वर का विरोधी तो है ही। उससे भी अधिक विरोधी वह है जो पूजा में लगा रहता है और दुनियाँदारी नहीं करता।

यह हमारा परम सौभाग्य है कि श्रद्धेय 'बाबूजी' महाराज हमारा मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी पावन वाणी है कि ईश्वर सरल है और उसकी प्राप्ति का मार्ग सरल तम है। यदि हम योग के जटिल अंगों पर मपन व विचार करें तो उसकी सरलता सुविदित हो जायगी।

ऋषियों ने योग के आठ अंग वर्णित किये हैं—यम, नियम, संयम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। इनमें से प्रथम पाँच मनकी चंचलता को दूर करने के लिए शारीरिक व्यायाम से अधिक कुछ नहीं। सहज मार्ग में ये छोड़ दिये जाते हैं। अन्तिम तीन ही हमारी साधना के मुख्य अंग है। अपने उपास्य देव को लक्ष्य मानकर हम उसका ध्यान करते हैं। उसी में खो जाने या लय अवस्था प्राप्त करने को समाधि कहते हैं।

ईश्वरीय समय समय पर देश काल परिस्थिति के अनुसार महापुरुषों के द्वारा हमारा पथ प्रदर्शित करता रहता है, आज हमारा जीवन जटिलतर बन गया है। हमारी औसत आय तो अत्यल्प ही है और आयु उससे भी अत्यल्प। चतुराश्रम व्यवस्थानुसार वैराग्य और सन्यासश्रम में प्रविष्ट होने के लिये ७५वर्ष कीआयु चाहिये। अतः सहज मार्ग" पर चलकर ही हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। आज यही साधना का उत्तम पथ है।

साधना मार्ग पर ले चलने के लिये हमको एक योग्य पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। उसी को हम 'गुरु' मानते हैं। हमारा गुरु भी वही हो सकता जो हम जैसा गृहस्थ हो और साँसारिकता में रहते हुये जल में कमल के समान हो। हमारी परिस्थितियों में वही हमको ऊंचा उठा सकता है। अब प्रश्न है ऐसा गुरु मिले कैसे ? उत्तर भी सरल है।

जिस महात्मा के पास बैठकर हमारी चित्त वृत्तियां शान्त रहें और अन्तः से प्रेरणा पायें कि इनसे ही हमारा कल्याण हो सकता है। हमें अपने को उन्ही के परम पावन हाथों में छोड़ देना चाहिये आत्म समर्पण के बाद हमारा अपना कुछ नहीं रह जाता। गीता में वर्णित है कि अहम् भाव का न रहना केवल सम्पूर्ण समर्पण से ही सम्भव है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर और हमारे बीच में दूसरे की स्थापना करना कहाँ तक न्याय संगत है। मेरा अपना विचार है कि माया मोह आदि अनेक बाधाओं के मध्य रहते हुये अनेक को छोड़ कर एक की ओर आ जाँय। उसके लिये जो एक (ईश्वर) है गुरु में आत्म समर्पण हो जाय और वह ब्रह्म की सन्निकटता ही होगी।

गुरु का कार्य है हमारे मल विक्षेप आदि मानवी गुणों को घटाना और दैवी गुणों (Divinity) को प्रदीप्त करना। ज्यों ही दिव्यता (Divinity) से सम्बन्ध स्थापित हो जाता गुरु कार्य समाप्त हो जाता है। गुरु साधक को हर समय संभालता रहता है। अतः गुरु कृपा का होना परमावश्यक है।

यदि हम प्रभु के पास पहुँचने के लिये एक कदम चलते हैं तो वह हमतक आनेके लिये सौ कदम चलता है। पर पहले हमएक कदम चलें तो ग्वाला गो प्रकृति से यदि अनुभव हीन है और एकाएक बछड़े का मुंह स्तन से लगा देता है तो उस समय क्या होता है ? गाय उछलती है अपने बत्स में प्रेम की तड़प उत्पन्न करने के लिये अनुभव रहित ग्वाला नोच

लगाकर बच्चे को दूध पिलाना चाहता है पर असफल रहता है। चतुर ग्वाला उस बत्स को गाय के मुख सम्मुख खड़ा कर देता है ताकि उसके प्रेम की धार बहने लगे। यदि वह बच्चा भूखा है और पूर्ण आत्म समर्पण करके खड़ा रहता गौ उसे चाटने लगती है और प्रेम विह्वल होकर दूध उतार लेती है बत्स दुग्धामृत का पान करने लगता है।

यही कार्य एक योग्य गुरु का है। साधक को प्रभु की गोद में डाल कर उसमें ईश्वर प्राप्ति के निमित्त तड़प पैदा करता है। यह गुरु कृपा पाना ही ईश्वर तक पहुंचने वाले मार्ग की पहली दशा है। वह गुरु जो ब्रह्मनिष्ठ है उसका ध्यान अपनी ओर लाने के लिये हमें उसकी सतत याद में ही अपने सारे कार्य करने चाहिये। यदि सौभाग्य से कहीं हमने उसकी यह परम कृपा पा ली तो वही 'सहज मार्ग' होगा। हमारी उन्नति अवश्य होगी यह दृढ़ विश्वास है।

"बाबू जी" के चरणों में

[] वसन्त पंचमी []

—:मिशन का वार्षिक उत्सव:—

सुरेश चन्द्र एम० ए०

दूसरे सालों की तरह इस बार भी बसन्त पंचमी के दिन अपने मिशन का वार्षिक उत्सव अत्यन्त शोभा प्रेम और शान्ति के साथ १८ और १९ जनवरी को मनाया गया। यह अपने आदि गुरु समर्थ श्री रामचन्द्र जी महाराज (फतेहगढ़) की पुण्य जन्मतिथि भी है।

सत्रह जनवरी से ही श्रद्धालु साधकों की भीड़ शाहजहांपुर में मिशन के वर्तमान प्रेसीडेन्ट पूज्य बाबूजी साहब के पवित्र घर में एकत्र होने लगी। सुदूर दक्षिण मद्रास गुलबर्गा से उत्तर में पठान कोट और सीमान्त गढ़वाल से पूर्व में आसाम और पश्चिम गुजरात और महाराष्ट्र से लोग आगये। सारी रात लोग आते रहे और १८ जनवरी के पवित्र ब्राह्म मुहूर्त में सब एक साथ ध्यान के लिये बैठे। यहाँ वैज्ञानिक युग की नई धर्म की गंगा बह चली। आध्यात्मिकता के इस मौन यज्ञ में प्राचीन ऋषियों के आश्रमों का पवित्र वातावरण फिर छा गया।

सभी के चेहरों पर एक उल्लास था। श्री गुरु के प्रसाद ने मन को बोझिल बनाने वाली संस्थाओं को धोकर साफ कर दिया और प्राणों का अनुपम तेज हर उपस्थित व्यक्ति की आंखों में जगमगा रहा था। मिशन की कई नई स्थापित शाखाओं से लोग आये थे। नवयुवक प्रौढ़ वृद्ध सभी आध्यात्मिकता के इस तीर्थ में जीवन का फल प्राप्त कर रहे थे। 'हाय हाय' से भरी दुनियां की भीड़भाड़ शोर गुल और धुआं जाने कहां खो गया था। यहां तो बस प्रेम का एक अपार सागर था—

'दरिया इश्क बह रहा लहरों में बेशुमार।'

सारे दिन लोग आपस में परिचय प्राप्त करते रहे या पूज्य बाबूजी के चरणों में बैठकर किसी कठिनाई या शंका का हल पूछते रहे। दक्षिण भारत से सत्संगी भाइयों की पत्नियाँ भी आई थीं। वे उत्तर भारत की भाषा ठीक से नहीं समझती यहाँ के काम का तरीका नहीं

जानतीं फिर भी बड़े उत्साह से हर काम को सीखने के लिये करने के लिये उत्कंठित रहतीं। जो लोग भारत की भावनात्मक एकता के लिए गले में ढोल लटकाये और पीठ पर इश्तहार चिपकाये फिरते हैं उनको चाहिये कि मिशन के उत्सव में आएं और देखें कि गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी के तटों से आई हुई प्राणों की पवित्र सलिला आज नए प्रयाग को जन्म दे रही है। इन्हीं नए तीर्थों में भारत फिर से जिएगा और विश्व को मार्ग दिखाया।

जब सूर्य ढल गया और आकाश में तारे और धरती पर दीप झिलमिलाने लगे तो समस्त अभ्यासी पुनः श्री गुरु के चरणों के घोसले में चिड़ियों के बच्चों की तरह चुपचाप ध्यानस्थ हो गए। कर्म की सारी चहल पहल विलीन हो गई और प्राणों की पुनीत धारा बह चली शान्ति के उस एक घण्टे में प्रकृति लीन होकर पुनः अपने आदि स्वरूप में जैसे खो गई।

फिर लोगों ने थोड़ी सी धर्म चर्चा की। एक सत्संगी भाई ने प्रार्थना के गूढ़ अर्थ पर प्रकाश डाला तो दूसरे ने सरल जीवन पाने की बातें समझाई। एक दो विदुता और भावनापूर्ण लेख बहनों ने भी पढ़े।

[शेष अगले अंक में]

BHAKTI

Shri Ram Chandra Ji President

People are mostly grooping in darkness. They consider stones as gods. They have lost their sense of discremination. They can not distinguish between man and man nor between man and other beings. Who is a man? Only he who is inspired with a sense of humanity. But the real man, in the proper sense can be he who makes man a man. What he must be? A thorough man in the real sense. How can one judge him? He is neither a magician nor a conjurer who can demonstrate things unusual and uncommon. But there may be many such conjurers among bhaktas. They will show themselves to be what they are not in the least. They will go on growing 'Rama, Rama' on every bead of their rosary with a heart quite away from it.

The majority of people, you will find seemingly stirred up with the idea of Bhakti. Singing songs of devotion, shouting 'Jae Jae' worshipping ceremoniously the idols in the shrine is a hobby for the worshipper. Stories and illustrations is to him the means of Bhakti recitation of sacred books, the worship; and discussions and discourses the attainment of Gyan. Teachers and preachers are not wanting in any respect. Go to any body and he will tell you some thing or the other to follow. Their hue and cry is so great that the whole fermamament begins to resound with the noise. But the wonder of wonders is that even then it never reflects into their hearts and inspite of all the clamour they remain, where they have ever been, neither gaining what they have to gain nor losing what they have to lose. For a demonstration of their

worship, they have cried, chanted, flattered and weptbut all to no purpose at all. Yet they think themselves to be Bhaktas, and are admired as great souls of purity and piety. Thus in a way they have got their due remuneration for all their acting. Their position is greatly exhaulted and they are considered to be the leader or the guru among their circle of Bhaktas. This is all that their flattery brings forth for them.

It may not however be unfair to say that almost all wayf worship commonly followed by the masses are but a form of flattery in one way or the other. It is completely devoid of attachment, love or surrender. Obviously all that they do is aimed more at pleasing themselves rather than pleasing the gods they mean to worship. This being closely associated with senses, is of course a baser desire. In other words they remain all through firmly attached to senses and this they presume to be an Ananda an absurd idea at the very surface. For this reason, inspite of all their toilsome acting they remain ever deprived of the bountiful Grace of the Divine.

My only object in relating to you all this is to impress upon your mind that such outer demonstrations of flattery do not count the least in awakening the real consciousness in the heart. It is all for the carnal desires related with the senses which seem to have no end, because if one is fulfilled, another associated with it crops up in its place atonce. These practices do not therefore, offer us means of deliverance from the net-work of senses. Consequently no practical purpose is there by served.

The true Bhakti is devoid of any physical or material desire it is actuated with the real craving a craving which when fulfilled does not give rise to another in ths place but ends all cravings. It is in the true sense the reminiscnce of the Homeland which is the final end of our journey. As a rule the reminiscnce of the Home will keep the remembrance of God alive in our heart and the vice versa. It is in fact an end which is endless and the craving for it is beyond the range of materiality, not to speak of senses. It is what is commonly understood as realisation, oneness, destination or the end.

Attachment with it may otherwise be interpretted as 'constant remembrance' and that is what Bhakti implies in the true sense. If it is not there, it is but a mockery and can be termed only as flattery. Flattery is harmful both to the flatterer and he flattered. A king having all flatterers about him is sure to suffer harm on that account. He must therefore apply stringent methods to stop this evil. The Nature too might have possiblly adopted the same course of action today. The result shall however come to light by itself in due course.

THE TECHNIQUE OF "PUJA"

By Raghavendra Rao
B. Sc., B. E., M.I.S.E.

Once an Abhyasi wrote to Master, 'Let me first see God and then I shall start the 'Puja'. The Master replied, "You want to bring in your experience That which is the end of every activity. It is just like a boy desiring to understand Shakespeare and Milton first and then to start learning A, B, C, D,. If the very object which is being sought stands before you then how can any body dare to ask you to worship ?

This clearly shows that Puja is after all a means to achieve some end. If the end or goal is achieved then there is an end of all puja. It is only when the goal is lost sight of, the means assumes an elaborate form and a rigid one too. This is the reason why there are innumerable divergent and complicated mechanical forms of worship.

Having decided upon the aim namely realising one's oneness with God to abide permanently in Him: the means to achieve it must be found out. Again the difficulty about the conception of God has to be solved. There are many definitions of God: God with qualities. God without qualities: God with form, God without form; God manifest, God transcendental; God in finite, God infinite; and so on. If one's mind is allowed to play with these conceptions it is bound to make a mess of all these. So, in order to have the

correct conception, the help on a worthy guide who has traversed the entire distance should be taken. The worthy Master, if he has the power of transmission at his command, will infuse the subtle idea of God in the subtlest way and the mind, if it is thirsty, firmly catches hold of the idea in its own subtle way. The result is a sort of satisfaction--nay, a kind of feeling of having found a firm footing--nay, not even this, but it is even the realisation of its secret longing. Lo. The beginning is made with the very end. !

Now comes the Puja. A question may be asked as to why at all the pnja should be done when the goal is attained at rhe very beginning by the Master's grace. The reply is that the goal so realised is still occult, secret, subtle or at the most it is a momentary flash in the abyss of ignorance and darkness. No doubt, the innermost core of the heart is lit up but it has to be catinuously and constantly fanned up so that an integral and camplete transformation may be effected.

This fanning operation is puja, worship, abhyas or practice. Just as it has been seen that the goal is so easily achieved in so subtle a manner, naturally, the practice also, likewise, should be easy and simple. It is a matter of common experience- and the abhyasis know it perfectly well--that the practice, if consciously and conscientiously done, goes on becoming subtler and

subtler day by day, especially when it is aided by the transmitting power of the Guide.

In the syatem of Sahaj Marga a subtle link between the Abhyasi and God is establisted from the very start. And the practice consists in trying to strengthening the link thus established. The thought is the dominant--nay the main factor in this practice. It is even so in every practice. The thought is made to dwell more and more and oftener and oftener on the pious idea infused by the Master until it becomes a living experience for ever. This is the whole technique of Puja.

Love and attachment to the Master accelerates the practice. This love increases rapidly if one takes of the Bhav (attitude) of any relationship known to human beings such as the lover and Beloved, child and Mother, or servant and the Master. One may decide upon the Bhav to be taken up according to his own taste. If the Bhav of the true relationship between man and God is taken up, the problem is solved immediately. But man is not normally aware of the true relationship. Hence it is advisable to take up that Bhav which is an image or a close replica of the real thing. Some of the Great Acharyas have advocated, and correctly too, the Bhav of the slave and the Master. This is almost the very relation which actually exists between man and God. Now it

depends upon His grace to allow us to take liberties with Him, as He generally allows.

(Raghavendra Rae)
B. sc B.E., M.I.S.E

Transformation

(Sri Ishwar Sahai)

Real craving is an essential feature of every successful pupsuit. It is more so with respect to one's pursuit for realisation. Strong craving promotes earnestness ofpurpose and induces man to harder efforts for the achievement of the object.

But then it is also necessary to have in mind a clear notion of what one really craves for. In other words the final object or the goal must precisely be in his sight. People are often found to be misled merely for want of thorough understanding of the object craved for. For that reason they generally remain held up within one or the other of the tempting features of the path without any hope of ever going beyond. If the goal had been firmly fixed in their view it could never have been possible to be led away by charms and temptations, nor would it then be difficult to trace out the right path and the right means.

What may be the object one aspires for ? It is different in different cases according to the mentality

and understanding of the pursuer. For one engrossed in worldliness, it may only be some sort of physical satisfection of the sensual desires. For others having some divine instinct as well, it may be different according to one's taste and mental liking. For this reason the ways and means suited to one may not be quite fitted for another's purpose. One has therefore to choose the means suited best to his own purpose. The question of accepting one and rejecting the other does not therefore arise atall.

For one aspiring for the attainment of the Infinite Absolute, the only effective meanes shall thus be those that lead him on upto the utmost level of subtleness, which is the real characteristic of the Divine. It is therefore essentsal for a pursuer to get himself relieved of grossness to the maximum possible extent.

This is what we have in Sahaj Marga, where we take special care to keep ourselves away from the grosser offect of things we are connected with in life. We keep the same thing in view in all our sadhana and abhyas. Besides we also adopt means to throw off grossness which has already settled in by the effect of our previous thoughts and actions. This is brought into effect by means of cleaning processes prescribed under the system.

Cleaning refers to purging out from the system every thing that stands in contrast with the real nature

of the Divine The man as apparent to our view is something physical and material. But with it there is the soul as well which is extremely subtle in character and it is only when soul is associated with the body that we call it as man. When the two are detached, it is then only the body and real man is said to have gone off. Thus the existence of man is a combination of grossness and subtleness (or huma and Divine) and that much contact is unavoidable unless one means to end the physical existence all together.

Thus our contact with matter being unavoidable, some amount of grossness is indispensable for our existence. But the difficulty arises when we go on increasing it enormously by the effect of our thoughts and actions. As a matter of fact it is not our contact with matter that creates so much of grossness in us but only our rigid adherence to the solid material aspect of things we are cocerned with physically. Our entire attention, usually, remains fixed upon the body and the things physically associated with it and we remain absorbed in thiuking of them all the while, affecting thereby our thoughts, feelings, emotions and consequently our actions too. Thus the result that follows is the continuous growth of rigidness and solidity in all our thoughts, feelings and actions. Grosser conceptions, mechenical practices, tenacious clinging to physical

formalities, rigidity of thoughts, feelings of prejudice and pride etc., all contribute heavily to the growth of inner grossness. Unless this is, somehow got over, no real progress can ever be possible.

Man possessee the human instinct but the divine instinct also exists side by side with it in the being of man. Usually the former is in predominencs owing to our closer touch with matter in the physical form. This may however be taken as the common level of humanity. Degradation from that level means advancement towards animality, while elevation above it as advancement towards Divinity. The human instinct remainthe same in both the cases, though shrouded over with the one or the other. At the ordinary level of humanity, where the Divine instinct, being shrouded over by the human, exists in a subdued form, it may appropriately be interpretted as the Divine with in the human. Now for our ultimate purpose we have but to reverse it as human within the Divine. That is in fact the sum and substance of the entire pursuit. This is commonly termed as transformation or the divinisation of man or in other words establishing predominence of the Divine over human.

This can be brought into effect by continually introducing Divinity or Subtleness into the man's being, so that in course of time it may be wholly transformed into Divine with the human merged in it.

A day with Babuji

(Shri Bhaeron Prasad Srivastava)

What a delightful and exhilerating experience it is to pass a day iu Babuji's company, can be known and realized by those alne who have spent hours with him in conscious and active attention towards his simple yet pregnant words and gestures. To attempt to describe the depth of his manifestly simple thoughts and expressions is to land oneself in the area which he has never treaded; yet some endeavour is to be made to give some faint glimpses of the indescribeable conditions which one can feel only through the sensivities and awerenesses which he develops through the sadhna of Sahaj Marg with his unfailing grace.

Babuji, as we all know, is a Grahastha Saint and whenever any body visits him he is recieved with all the comforts of family life. One can not fail to notice how efficient and successful Grahastha he is. Even the slightest domestic affair does not miss his attention and yet he is all the time busy with greater and nobler tasks of amelioratiog the lots of those who surround him, and performing the nature's work entrusted to him.

Not a moment is there when he is not in communion, whether awake or asleep, not a breath is free when he is not divulging some secret or exploring some new regions. Even a movement of his head or wink of his eye is indicative of his hitting puonsome

newpoints. The untiring and manifold activities of his mind engaged in different works simultaneously, with remakable exactness, speak of his powers beyond human comprehension.

Simplicity reigns supreme in him and around him. To most whom ostentatious display appeals, are grossly deceived in their appraisal about him. In his behaviour his humility and generosity is penetrating to heart. His every motion is meaningful, every word a disclosure of considerable import. His style is inimitable and expression peculiarly charming.

In Babuji's company, to what extent one follows his talks, and to what degree one can draw divine energy from him, very much depends upon the capacity, intelligence aud faith of individual Abhyasis. While talking Babuji throws hints about the abhyasis sitting with him, in indirect manner out of extreme courtesy, of which he is an embodiment. These hints are so subtle and the mauner of their expression so artful that generally abhyasis fail to realize that they are applicable to them. Not very unoften he narrates weaknesses and shortcomings, as if of his own, but actually they are meant for hearers. The most common method of Babuji's preachings is the citation of examples relating to third persons and the answers that he had to give to the questions put, both by seekers and testers.

Babuji's company is engaging through out with divine thought. While sitting before him the mind does not wander away and seems to be under peculiar charm and influence. The ingenuity of his working is difficult to be comprehended but a striving soul feels it within himself. While reclining on his arm-chair some times he goes deep within and a few moments after, with a flash in his eyes he would sit erect and give out some new idea or discovery. Next moment with his half closed eyes and with a slight bend of his head towards left nipple he would be merged in the silence looking askance towards the seeker sitting before him. The seeker may not feel but this way he reads him and removes his obstacles and impediments. At times busy in talk Babuji would suddenly throw a maidan glance at the Abhyasi and would atonce withdraw it if he (abhyasi) becomes conscious of it with a stylish swing of his head. This is how he reads abhyasi and works for them.

The method of his talks is entertaining through which runs the thread of spirituality and divine force which instantaneously touches the hearts of listeners of acute and developed understanding. If all his talks which he gives every day and every time are committed to writing, they would form numerous volumes containing the pearls of wisdom and spirituality but the pity is that there is no such arrangement.

So long one remains with Babuji, whether walking on street, or taking food or talking to him or merely sitting idle by his side, he receives impulse after impulse. Beauty lies in the fact that Babuji would do it all not as a favour but as his duty. Not only this if any abhyasi happens to pass a night at his place, Babuji would not miss the opportunity of cleaning him and giving him new dimentions, if of course he is eligible, as a result of this when he wakes up in the morning, he (abhyasi) finds himself sufficiently lightened and transformed. Thus one can see that this invaluable and rare service ie rendered with love and affection of a father without any distinction. But one can get only what he deserves as it is only in consonance with divine dispensation. One who dives deep in him, who, is all in one, and one in all, can hope to discover him and through him the vision of man's destiny.

In Babuji's close association one automatically feels attached to divine thought without least strain and inwardly experiences peace and tranquility unkown before. A day's stay brings wonderful transformation and when abhyasi returns home, he returns with a spiritual wealth, of rare acquisition. Now it remains for him to lose the wealth or increase it through the sadhna with all its requisites. Readers can well imagine what a fateful day, it is which one spends with Babuji, and who would not cherish to pass

as many days as possible in the company of one who gives all and takes nothing except the burden of his devotees.

Bhairon Prasad Srivastava

Talks on Efficacy of Rajqagor

(Dr. K. C. Varadachari)

The vast region of the Heart is crossed with the help of the Master's transmission. The Mind region is entered. Master states that for most persons the gains experienced in the Heart region itself are very great. But unless that region is crossed one does not go beyond to that state which is beyond return or Maya. The promise of the scriptures is that the soul should go beyond the cycle of samsara or the region of the Heart so that there can be no return to this world of Maya. This is echoed by the phrases- ANAVRTTI and NAPUNARAVRTTI. There are many souls, even teachers who do not wish to go beyond this region on the plea that they would like everybody to cross over to the region beyond it. This of course is a glorious idea and unselfishness. However for most persons it is necessary to go beyond the heart region. Great Teachers and avatars are those who have come down from the central Region and Centre itself for the Upliftment of all and

specially for the proper restoration of dharma or godly kingdom. Others who are imbued only with love of humanity and who have hardly the higher access to regions of the Centre can only show their attachment to humanity. However it must be stated that those in the Heart Region can owing to certain techniques have access to regions of the Mind Region and gain powers and perform miracles and thus even feel that they have reached the regions of the Mind, or Super-mind of God. The essence of the Heart region is in the Mind region and that is why there is this communication of the higher to the lower regions. The Entire Universe and its form all owe to the Big Mind of God, and indeed all that experience are seen to have their origin or pure condition in this Region. By entering into this region one develops one's capacity or power to experience the great region. This may be considered to be the region of Intuition which is truly a state of feeling-cognition rather than cognitive as such as in the region of the Heart. This is a region which is beyond the regions of air and light but from which they are descended. It is beyond even akasa or etherial force and motion. As Sri Krsna has stated: na tatra surya bhati, na sasonkaha na capavakah. neither the sun nor moon nor even fire shine there. This is said to be the powerhouse of God.

Imagining the Brahmand as this region, we can see that it is as the ancient seers stated the world

of Divine Powers and Personalities. The Vedic thinders in India have mentioned the whole host of Gods such as Agni, Vayu, Indra, Varuna, Brhaspati, Prajapati, Soma, Rudra & Surya. These are indeed One in so far as they are personalities or powers and functions of the one Supreme or the centre These are diverse lords of the powers which are revealed in the Heart Region. The worship or upasana of these powers through yaga and yajna has led to the cults of different kinds and sectarianisms. Most occultists or power dabblers come into contact or relation or communication with these and have exercised extra—ordinary meraculous powers but all these have in the end been producers of misery.

In a profound sense Indian thought has asserted that these godly powers are functions which are filled by certain souls which haves ought siffhis of these functions. These worlds in a sense are the worlds of siddhas. But being limited by the fulfilment and exercise of these powers they are incapable of going above the region of this Brahmanda. Indeed it is seen that souls which aspire to these worlds or lokas of Indra or Varuna or others remain there and come down to the lower regions when their yaga or yajna--phala is spent or consumed. Secondly as the Mimamsakas have held the yaga enforces the mechanical production of the effect and as such it is a karma--governed world.

Man who aspires after the infinite alone passes

beyond the vast storehouse of godly energies and really it is a region of refined Calmness and even the idea of creation is imperceptible. The Brahmanda is the entire Universe in the vaster sense when we thick of the cosmoses. This vaster region is called the Parabrahmanda. Indeed it is when with the help of Master we cross this Brahmanda that we gain power to go beyond it and enter into this vaster region. The Efficacyof Rajayoge does not distinguish between the two divisions of the Brahmanda which follows the distinction made between the lower and higher Heart region.

The Mind region is the region of idea which is the essence behind the expressions in the Heart Region. When we pass beyond the idea to Realty idea itself fades away. Is it mere conception or still farther where canception itself fails ? It is stated by the Master that when the region is crossed we pass beyond all expression in the sense we have been using it. This is astate which is inexpressible as it is.

Master in his REALITY AT DAWN has mentioned about this vast region as comprising the eleven circles or rings of egoism. The subtle forms of egoism are to be understood as the powers that one utilises for his satisfaction or siddhi. The getting rid of egoism is the most important. Indeed this can be explained simply as the way one happy in thinking of himself as the most truthful, as most just, as

unselfish even and so. Even to feel one self as devoted or a bhakta or lover is to encaurage the feelings of egoism. Subtle indeed is the way of egoism. This is possibly revealed when we think that we passfrom our little body-consciousness to the mind consciousness where in we feel the sense of universality. We know reason is said to be universal whereas sensations are said to be individual or particular; similarly the mind is said to be universal and body is said to be particular. In a similar way there is the feeling of univesality in Mind but it is a universality which is a subtle egoism that is estsence of the lower gross manifestation of it. Sri Ramacandra ji has clearly indicated the fact that freedom from egoism even of the subtlest kind as seen in the case of Saint Kabir for example, is where the aura of divine consciousness is not in any sense modified by the sorrows af losses or gains.

The subtle rings of Egoism shows also the eleven siddhis that are exhibited by those who have reached these regions. However they are not the Ultimate state because they are yet limitations to the Ultimate, though they are verily exceedingly marvellous states.

Most probably we must also state that the Vasus, Rudras (Dhruvas) and Adityas who represent the fathers, grandfathers and great-grant fathers of our Pitris and their spouses as seen in the Tarpana-

kanda are also said to be denizens of this world but not yet of the Utterly liberated, though liberated from the world of Maya or rings of Maya. Master has of-course given the account of the Vasus and Dhruvas as men who have been entrusted with the working of the Nature in the various spheres and that they have devloped spirituality.

One who goes beyond it enters into the Region of the Ultimate.

What Is Transmission

(Shri B. D. Mahajan)

Yogic transmission (Pranahuti) is the power by which the Master awakens the dormant forces of an abhyasi. It is like a tool with which the Master adjusts the abhyasi's inner system and regulates the tendencies of his mind. It is a pointer which leads the mind through various stages of spiritual evolution. It is the grace of the master which flows into us to soothe our souls. Nay, we might as well say that the Master himself enters into our body to strengthen our hearts with his tremendous energy. He offers the (ahuti) of Prana into us. Prana is a sort of vaccum which has tremendous atomic force. It is capable of doing every thing. It coagulates the matter for creation, cuts apart the layers that bind the soul and cleanses various points of concentrated energy in the system. Terough constant charging by Prana the true

nature of soul shines forth and its wonderful powers are brought under command. The nectar of real life pours in and Nature lays open its treasures. Thanks to such a power that transforms our entire being. It is so wonderful and automatic that it starts pouring at its very name and can be had direct from the Master even without his knowledge. It scans the system thoroughly and clears off complexities from the abhyasi's mind. At times it descends upon the abhyasi all of a sudden and merges into Infinity after doing its work. It connects the Infinite to the core of the heart. It increases the intensity of mental vision and gives a deeper penetration into things.

But the yogic transmission is not the so-called mesmerism or hypnotism nor is it the automatic radiation of the pious particles from a saintly person. It is result of the psychic development of a man of high calibre relating purely to the soul Unlike the effect of the company of a Mahatma its effect is ever-lasting, and it works from far off distances too. Similarly it is quite different from hypnotism or mesmerism which deal with the material forces in man. Also the will and logic of a hypnotised person are completely shattered and he acts like a puppet in the hands of a hypnotiser, whereas in the case of Yogic Transmission the will and logic of the Abhyasi become extraordinaily strong and he draws impulse from the powers of the Master, He works with a double force He marches on to know the real nature of soul with a strong determination

and, finally, abides in a state of perfect tranquillity. It is a pity that the people of the very land where this process of Yogic transmission originated and has had been in use ever since the ancient times, do not even believe in it and discard it as a thing of the Westerners by calling it hypnotism or some such baser art.

Transmission is a thing to be received and perceived by the mind. Its objeet is the astral body. It is a thing of practical experience. Personal underging alone can help to understand it. Delay no more. Surrender all your thoughts and feelings to the Great Master and enter his mental sphere for getting nourishment from the spiritual waves of his Divire thoughts. It is only then that he will be able to deliver you to the brighter world whereafter you will embaak upon your own spiritual life. The surrender must be complete in order to avoid delay and save the precious time. The Divine Grace may then be flowing on to you by itself, but that can all be possible only through the medium of the Master.

Yogic cleaning of the system may be done in two ways. Firstly, by continuous forcing out of the internal grossness or the mental abnormalities and complexities from behind the body with the help of your thought force. The process may be likened to a magnet's pulling out of the ferric impurities, or the arrowing out of impurities from the sides Secondly, by imagining a current of light breaking on the system

from ahead and percolating through the system taking along with it all the undesirable elements- both physical and mental. Cleaning of the grossness, gathered in, takes place in moments if it is connected to the sideways blowing of the wind on a speeding vehicle. The internal impurities should be jetted out from behind like the smoke conscience is kept clean also through constant remembrance of the Master.

The effect of cleaning, although psychological is highl, efficacious in Sadhana. It improves the reception, increases the capacity and sharpens the insight. It gives freshness to the body and lightness and purity to the mind. Proper cleaning is unavoidable before meeting a great personality and even after the initiation has taken place.

When the system has been cleaned, the working of the transmitted power of the Master becomes to the inner eye. It clears off layers of impurities from the vital centres of the body to attract the automatic flow of the Divine Grace. Streams of power flow out in the various directions evolving the inner person. And the inner establishes a link with the All-pervading imbibing some of His qualities. After all the son is bound to get intoxicated on seeing his Father's treasures. The body remains no more a barrier, the objects loose their soldity, and a strange matter permeates. Ocean of grace links from above and the individual self enjoys

the swimmings done in it. The ocean then abides within. The heart appears to be throbbing in unison with the universal order. A clamness prevails all over. The ideas come in their original form and questions come in their answer form in a natural way. The facts come before the idea itself. It remains upto the individual to read in between them and be on guards and balanced. All that one has to do then, is to connect the force with the work and the thing comes to him when it is needed and God hears him when he wants to be heard.

PRAYER

By Sri S. P. Srivastava.

(Delivered on the occasion of Basantotsava)

Revered Shri Babuji, dear and respected brethren,

As the planet, we inhabit, completes its elliptical orbit round the sun, we gather here to offer our reverent homage and obeisance to the sun of spirituality who heralded the dawn of a era of human culture through the ever fresh eternally refreshing light of the Sahaj Marga system of Sadhana. There can hardly be a better way of offering this homage and obeisance than to pray that this light beamed and radiated through the great master's whole embodiment in our midst may remain available in its fullest splendour to man and his progeny so long as this planet remains revo lving round the sun and thousands of other known and yet unknown gross and subtle movements remain constituting the dynamic structure of the phenomenal reality that is the universe.

The prayer not only constitutes the best way of offering obeisance, but it also remains the universal method of communion with the Supreme End and Essence of all Existence—personal or impersonal. At higher stages of Its Reslization, it is literally impossible to crawl even a millionth part of a millimetre through selfeffort and assertive arrogance of egoistic self-reliance. There can be hardly a more efficacious technique of the Realization of the Supreme Goal of human existence except humble sumission to the Supreme Goal Itself

by way of prayer It is this importance of humility and submission–the esseuce of the attitude of prayer–which stands so beautifully borught out by Christ in the allegory of the impossssble passing of a camel through the eye of a needle and by Kabir in that of an ant climding up a steep mountain with a load of camels and elephants on its back after having anointed itself with nine maunds of greasy oil.

The value of prayerful attitude in sadhana having been noted, we have naturally to enquire into the nature of the prayer to be offered In the history of religious and spiritual sadhana throughout the world, many prayers have been recommended from time to time Some of them like the Gayatri in the vedic religion have acquired immense significance and weilded much influence even to the extent of becoming a mysterious incantation providing a panacea for all actual and conceivable ills The prayer recognized under our Sahaj Marga system of sadhana contains all the ingredients of the most reasonable and efficacious prayer to serve as the weapon for the Realization of the Supreme Goal of human existenee. Some time back a certain abhyasi suggested to revered Babuji to modify the prayer through the recognition that our bad wishes and not all wishes are impediments to our advancement. Snch misunderstandings arise due to lop sided comprehension of the totel situation. The prayer, as it is, constitutes one of the most fundamental characteristics of our system of sadhana, and its reasonableness

must be comprehended by the abhyasis. Questioning is not altogether bad, but it must aim at grasping rather than attacking the significance and rationality of that whose significance and rationality remains unquestionable.

Desires are good and bad with reference to particular purposes of indivfduals and in relation to their particular cultural milieu. But with reference to the Goal of the Realization of the Ultimate. every desire is bound to produce a pre-conception of the Ultimate and Its Realization, and the abhyasi, consequently, may get attached to some object of his own particular purpose or prejudice, thus obstructing the flow of the Real into his being. Unless prepared to accept the Real as It comes to him, he may find himself whirling about in the pool of his own pre–conceptions. This may happen even in the name of most sublime delusiveness. A famous devotee poet of the medieval period of India's cultural history declares that he is not prepared to offer obeisance to the Lord unless He appears in a particular form viz. of a warrior with bow and arrows in His hand. Such an obstinate clinging to the forms of ones own choice must necessarily bring about an impediment in one's progress towards the Goal of the Realization of the Ultimate which may appear in ever fresh uncommon forms and hues. It is, therefore, an essentially common feature in every reasonable and efficacious form of Yogic practice throughout the history of the

Sadhana aspect of Indian philosophy, that denies have been regarded as an impediments in the progress towards the goal of yogic sadhana and चित्तवृत्ति- निरोध as Patanjala yoga puts it, constitutes the starting point of the yogic process. Our Sahaj Marga system of sadhana places the primary emphesis on the goal, which it takes to be nothing short of the realization of the Ultimate.

In fact every word in the prayer of our sanstha is irreplaceably significant. The first thought in the prayer asserts that the Master is the real goal of human life. Whatever the goal, it must essentially be a state of oneself. It has to be examplified in a member of human society itself. The natural object of attachment and realization for man is man. The ideal or goal has, however, to be distinguished from the actual or the starting point, We therefore take Master or Man with a capital 'M' as the goal.

Now, as in case of the Ultimate Goal of human life, the Master too as its concrete embodiment, has to be realized as He is and not in accordance with one's pre-conceptions about him, created and capable of being created by attachment to one's own desires. The real Being of the Master gradually reveales Itself in ever-fresh uncommon forms and hues; and this Real Being of the Master or Goal continually flows into and transforms the actual being of the abhyasi, attached to It appropriately. The desires or pre-conceptsons about good or bad depending upon

heredatory and environmental conditioning of an individual abhyasi, are bound to bring about the rejection of much of that which is flowing into the abhyasi's being; and thus impede his progress on the path of realization.

There, however, arises a psychological question as to the possibility of a perfectly desireless condition. Gita deals with this problem very poignantly when Lord Krishna replies to Arjuna's inquiry on this point that it is not the eradication but sublimation and substitution of desires that is really desireable. In fact the natural way of subduing the forceful desires is to create an all-absorbing intense desire for the goal. In fact a desire for desireless-ness itself beccomes equally an impedement on the path of realisation in so far as aversion or द्वेष is only a negative and more nnhealthy form of desire. The real form of desireless condition which is really conducive to the realization of the goal is a kind of balance of mind in a sort of indifferent attitude towards all desires. This happens naturally and automatically through the all-absorbing attachment to the Goal i.e. the Master, in whom the condition of perrfct balance reigns and from whom this condition flows into the abhyasi, who gets attached to Him. The condition of the real form of desirelessness, then, follows from an attitude of receptive surrender to the Goal i. e. the Master rather then that of active effortful suppression of desires. This essential point in the technique of Yogic

sadhana is incorporated in the third part of the prayer viz the recognition that it is through the grace of the Goal or Master that whatever constitutes the essential Being of the Master flows into the being of the abhyasi.

This question of the dependence on Master's Grace is really pertinent. Ordinarily there are talks about surrender and dependence on Grace, which present a picture of Grace that may be a disgrace to the one who receives it as well as to one who bestows it. Surrender as commonly understood, produces deproved docility or arrogant shrinking of responsibility. But real surrender must bring about dauntless courage and unfailing self reliance which certainly is not to be confused with egoistic pride etc. Surrender softens and sublimates, simplifies and strengthens the self. It remains the surest-almost the only way to self realization at advanced stages. It has rightly been remarked that the way to the realisation of self is through losing the self– "खुद को पाने का तरीका खुद के खो जाने में है।" The Vedanta Acharya has rightly characterised the highest form of surrender through the analogy of the kitten (मार्जरि न्याय) Literally, at the stage of true surrender one finds it impossible even to inhale or exhale the breath without the Master's help; but this does not bring about inactivity. Whatever it may be, it remains for superior to activity, and hence for more superior to inactivity. The inertia of inactivity and the tension of activity

even the barren simplicity of indifference, so to say, melts away; and a natural Sahaj flow of whatever constitutes the core of Being, remains. At such stages of refinement that constitute the progress towards and into the Goal or Master, it can not be possible except through the Goal Itself. To such a progress into the inner and innermost core of the Berng through his own help, our desires in thc form of pre–conceptions essentially must prove to be impedements, by hindering the grasp, comprehension, acceptance of what comes.

Thus the prayer prescribed in our Sahaj Marga sadhana summarises and compresses all the essentials of yogic sadhana in a compact whole comprising of three inter–dependent thoughts which are complementary to each other, and thereby blend into a single unitary concept of the supremacy of the Goal. The teleological perfectionism of this sadhana thus irradiates its super–excellence. May it, in the form of the beginning–less endless benignance and grace of the Master, remain availalle to all posterity, in its prestine purity and refreshing lucidity. Amen.